

## मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में निमित्त का स्वरूप

### § २.१७ द्रव्यकर्म और चेतन-परिणामों के बीच होने वाला दोतरफ़ा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

जीवप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह को प्राप्त हुई कार्मण वर्गणाएँ, जीव के परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित्त हुआ करती हैं। जीवप्रदेशों के साथ बँधते हुए इन आठ कर्मों में, स्थिति और अनुभाग की हीनाधिकता भी जीव के विकारी परिणामों के अनुसार ही होती है — परिणामों में जितना कषाय-अंश होता है, उसी अनुपात में कर्मों में स्थिति-अनुभागांश पड़ते हैं।

यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इकतरफ़ा नहीं, बल्कि दोनों तरफ़ से है। जहाँ, एक तरफ़, जीव के कषायादिभावरूप निमित्त के सद्भाव में कार्मण वर्गणाएँ अष्टकर्मरूप (नैमित्तिकरूप) परिणमन करती हैं; वहीं, दूसरी तरफ़, पूर्वबद्ध कर्म के उदयरूप निमित्त के सद्भाव में जीव रागादिकरूप (नैमित्तिकरूप) परिणमन करता है। परन्तु अपनी भ्रमपूर्ण धारणा के कारण, इस दूसरी तरफ़ के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को हमने कर्ता-कर्म सम्बन्ध मान रखा है, और अपनी स्वतंत्रता को भुलाकर स्वयं को कर्मों के आधीन बना रखा है। वस्तुतः यह जीव अपनी शक्ति को भूल गया है कि 'मैं चेतनायुक्त पदार्थ हूँ — मुझमें आत्मशक्ति है।' इसकी जितनी आत्मशक्ति वर्तमान में है, उसे यह अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है; इसलिये उतने

रूप में यह स्वतंत्र है। तथा, जितनी शक्ति का वर्तमान में अभाव है, उसकी प्राप्ति के लिये — अर्थात् आत्मशक्ति को बढ़ाने के लिये — यह पुरुषार्थ कर सकता है। इतना अवश्य है कि ऐसा पुरुषार्थ क्रम-क्रम से, गुणस्थानों के अनुसार ही होना सम्भव है।

शुद्ध आत्मा का, सिद्धात्मा का स्वाभाविक परिणमन पर-निरपेक्ष है। परन्तु, संसारी आत्मा का वैभाविक परिणमन परनिरपेक्ष नहीं होता; विकारी परिणमन में पर का निमित्तपना होना ज़रूरी है। अन्यथा, वह विकार जीव का स्वभाव ठहर जाएगा, और फिर उसका कभी अभाव न हो सकने का प्रसंग आ खड़ा होगा। उदाहरण के लिये, माणिक्य का स्वाभाविक लालिमायुक्त परिणाम पर-निरपेक्ष है; जबकि स्फटिकमणि का लालिमायुक्त परिणमन परनिमित्तक है, जपापुष्प आदि परपदार्थ के निमित्त से है — अतः विकार है; और इसीलिये मिट भी सकता है। परनिमित्तक विकार के मिट जाने पर स्फटिकमणि अपने स्वाभाविक निर्मल परिणाम को पुनः प्राप्त कर लेती है।

अष्टकर्माँ में से जो चार अघातिकर्म हैं, उनके उदय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुख्यतः पौद्गलिक पदार्थों तक सीमित है, क्योंकि अधिकांश अघातिकर्मप्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं। अतः उनके उदयकाल में शरीरादिक की तथा अन्य संयोगों की उदयानुसार परिणति होती है। प्रकृत में तो उन्हीं कर्माँ की चर्चा है जो जीवविपाकी हैं, जिनका फल आत्मा की आन्तरिक शक्तियों से सम्बन्धित है, अर्थात् मुख्यतः चार घातिकर्म, और उनमें भी विशेषरूप से मोहनीय कर्म, जो कि जीव के संसार का मूल कारण है। विचार करने पर हम पाते हैं कि जीव यहाँ भी अपने परिणमन में स्वतन्त्र है; अतः वह रागादिभावरूप जैसा

परिणमन करे और जितना परिणमन करे, उतना ही मोहनीय कर्म का उदय माना जाता है।

सर्वार्थसिद्धि में श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'उदय' की परिभाषा इस प्रकार की है — *'द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः'* अर्थात् जीव के द्वारा द्रव्यादि निमित्त के अनुसार कर्मफल की प्राप्ति उदय है (अ० २, सू० १)। 'द्रव्यादि निमित्त' का अभिप्राय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से है (स० सि०, अ० ६, सू० ३६)। इनमें से पहले चार — द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव — की प्रासंगिकता तो मुख्यतः अघातिकर्मों के सन्दर्भ में हैं। मोहनीय कर्म के सन्दर्भ में तो जीव के 'भाव' या परिणाम ही प्रासंगिक हैं, अतः उक्त परिभाषा का आशय है कि *जीव के परिणामों के अनुसार जो फलप्राप्ति हो, वह उदय है।* ध्यान देने योग्य है कि आचार्य का आशय 'जो उदय हो, वह फलप्राप्ति है' — ऐसा नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद के उक्त कथन में करणानुयोग का यह नियम अन्तर्निहित है कि कर्म के उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, क्षयोपशम आदि अवस्थाएं जीवपरिणामरूपी हेतु के अनुसार ही होते हैं। अतएव 'शेष द्रव्यकर्म का क्या हुआ, जिसका फल जीव ने नहीं लिया?' इस प्रश्न का उत्तर यही बनता है कि जीव के परिणामरूपी पुरुषार्थ के अनुरूप उसका उदयाभावी क्षय हो गया, अर्थात् वह देशघाति आदि रूप से संक्रमित हो गया। करणानुयोग के अनुसार, मात्र उदयावलिकाल को छोड़कर, उदीयमान कर्मों के स्थिति—अनुभाग में अपकर्षण, उत्कर्षण आदि परिवर्तन जीव के वर्तमान पुरुषार्थ के अनुसार सदाकाल चलते रहते हैं। अतः उदीयमान कर्म का, हम अपने विशुद्धि की ओर बढ़ते परिणामों

के अनुरूप, जितना फल लेते हैं, उतना 'उदय' कहलाता है और शेष का 'उदयाभावी क्षय' कहलाता है। दूसरी ओर, यदि हम संक्लेशमय परिणाम करते हैं, तो जितना उदीयमान कर्म है, चूँकि हम उसके अनुपात से भी ज़्यादा कषाय, अपने अंतरंग रुझान के वश, कर डालते हैं, इसलिये आगामीकाल में उदय में आने वाले जो कर्म-निषेक थे, उनका भी समयपूर्व उदय हो जाता है — अर्थात् उनकी 'उदीरणा' हो जाती है।

इस प्रकार, यह हम पर ही निर्भर करता है कि हम कितना फल लेते हैं — कम या ज़्यादा।

## § २.१८ कर्मोंसे बँधे जीव की

एकदे । स्वतंत्रता

ऊपर की चर्चा के अनंतर, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि जीव बिल्कुल भी कषाय न करे, अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय का बिल्कुल भी फल न ले?' इसका उत्तर है कि इसके लिये सम्पूर्ण आत्म शक्ति की आवश्यकता है; जबकि वस्तुस्थिति यह है कि हममें वर्तमान में जितनी आत्म शक्ति है, हम उसे भी पूरी तरह चेतना में नहीं लगाते। यदि सही पुरुषार्थ करते हुए पूरी तरह लगा भी दें, तो भी उतना ही 'उदयाभावी क्षय' होगा जितना कि वर्तमान गुणस्थान के अनुसार सम्भव है। किसी साधक द्वारा पुरुषार्थ की विशेष प्रबलता से यदि उससे भी अधिक आत्म शक्ति लगाई जाती है तो उसका गुणस्थान-परिवर्तन भी हो सकता है।

चौथे गुणस्थान वाले जीव की जितनी आत्म शक्ति होती है, वह उतनी ही लगा सकता है। वहाँ पर जो राग-द्वेषादि

होते हैं वे उसके आत्मबल की कमी के कारण होते हैं। अतः उसे आत्मबल की कमी के अनुपात में फल ग्रहण करना पड़ता है — तब उपचार से कहा जाता है कि 'कर्म ने फल दिया'। दूसरी ओर, जब ऐसा जीव आत्मानुभवनरूपी पुरुशार्थ के बार-बार प्रयोग से अपनी भाक्ति बढ़ा लेता है, तब बहिरंग में तो यह अणुव्रत/महाव्रतरूप आचरण को अंगीकार करता है और अन्तरंग में इसकी अप्रत्याख्यानावरण कशाय का संक्रमण होकर प्रत्याख्यानावरण कशायरूप उदय रह जाता है (अथवा, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण, दोनों कशायों का संक्रमण होकर संज्वलन कशायरूप उदय रह जाता है) — क्योंकि इसने अब इतना आत्मबल संचित कर लिया है कि वह तद्रूप फल नहीं लेता। इस प्रकार, यह जीव एकदे तः स्वतन्त्र है।

### § २.१६ जीव का सम्यक् पुरुषार्थ और मोहनीयकर्म की विपाकशक्ति — दोनों के बीच चलने वाली सतत रस्साकशी

कर्मादय से यह जीव कितना प्रभावित होता है या नहीं होता — मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में यह कर्म के हाथ में न होकर, मुख्यतः जीव के आत्मबल पर निर्भर करता है। प्रवचनसार के टीकाकार जयसेनाचार्य ने लिखा है — 'द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति' अर्थात् द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि शुद्धात्म-भावना के बल से जीव भावमोहरूप परिणमन नहीं करता तो बन्ध नहीं होता।

[ गाथा ४५ (पुष्पफला अरहंता . . .), तात्पर्यवृत्ति टीका ]

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या पौद्गलिक कर्म में कोई फलदानशक्ति है, अथवा वह अतीतकाल में जीव के द्वारा की गई कषायों की तीव्रता—मन्दता को मापने वाला कोई यन्त्र मात्र है, कुछ वैसे ही, जैसे कि थर्मामीटर भारीर में बुखार की तीव्रता—मन्दता को मापने वाला एक यन्त्र है? इस प्रश्न का उत्तर कुछ उदाहरणों के माध्यम से समझने में सरल रहेगा। जैसे कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण शक्ति है, जो कोई भी पौद्गलिक पदार्थ उस शक्ति के दायरे के भीतर होता है, उसे वह अपनी ओर खींचती है; ऐसे ही, मोहनीय कर्म में भी संसारी, कर्मबद्ध आत्मा को रागद्वेषरूप परिणमन की ओर खींचने की शक्ति है।

अथवा, जैसे चुम्बक में लौहपदार्थ को अपनी ओर खींचने की शक्ति है। उधर, लौहपदार्थ में भी अपने वजन के अनुपात में उस चुम्बकीय आकर्षणशक्ति की विरोधिनी एक शक्ति है। अब, चुम्बकीय शक्ति की अपेक्षा लौहपिण्ड की विरोधिनी शक्ति यदि कम है तो लोहे को चुम्बक की ओर खिंचना पड़ेगा। दूसरी ओर, चुम्बकीय शक्ति यदि तुलना में कम है तो चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचने में असमर्थ रहेगा।

अथवा, मान लीजिये कि एक आदमी किसी दूसरे आदमी का हाथ पकड़ कर खींच रहा है। यहाँ, दो संभावनाएं बनती हैं। पहली यह कि दूसरा आदमी खुद भी उधर ही जाना चाहता हो — तब तो दोनों की शक्ति जुड़कर, कुल शक्ति दुगुनी हो जाएगी। दूसरी संभावना यह है कि दूसरा आदमी उधर नहीं जाना चाहता हो, बल्कि पहले आदमी के खिंचाव से विपरीत दिशा में अपनी शक्ति को लगाता हो — तब गणित के नियमानुसार, पहले आदमी की खिंचाव—शक्ति में से दूसरे आदमी की विरोधी—शक्ति को घटाना पड़ेगा। यहाँ, पुनः दो

संभावनाएं बनती हैं। यदि दूसरे आदमी की शक्ति, पहले की अपेक्षा ज़्यादा है, अथवा बराबर है, तब तो उसे खिंचा नहीं जा सकेगा। इसके विपरीत, यदि दूसरे आदमी की शक्ति, पहले की अपेक्षा कम है, तो उसका मात्र उतना ही खिंचाव होगा जितनी कि उसकी भाक्ति में कमी रह गई।

इस उदाहरण द्वारा जीव और मोहनीय कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक तरह से समझा जा सकता है। मोहनीय कर्म में खिंचने की भाक्ति मानना भी ज़रूरी है, और जीव में खिंचकर जाने की भाक्ति भी स्वीकार करनी पड़ेगी — तभी इनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बन सकेगा। मिथ्यादृष्टि जीव मोहकर्म के खिंचाव की ओर जाना चाहता है, अतः उसकी स्वयं की शक्ति/पुरुषार्थ एवं मोहकर्म की विपाकशक्ति — ये दोनों मिलकर दुगुनी होकर एक ही दिशा में कार्य करते हैं। इसके विपरीत, सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोदय के साथ नहीं बहता और उसका यथाशक्ति विरोध करता है — आत्म-स्वभाव का आश्रय लेता है — अतः कर्म का खिंचाव भी उसी अनुपात में कम हो जाता है। पुनश्च, शुद्धात्मभावना/साधना के द्वारा साधक जीव का आत्मबल जैसे-जैसे बढ़ता है, कर्मों की शक्ति भी वैसे-वैसे ही क्षीण होती जाती है।

## § २.२० 'जीवविपाकी' कर्मों की भावात्मक

व्याख्या — 'संस्कार' की भाषा में हम मन के द्वारा जो कुछ भी विचारते हैं, वाणी के द्वारा जो कुछ भी बोलते हैं, शरीर के द्वारा जो कुछ भी करते हैं — उस सभी में हमारे योग-उपयोग का जुड़ाव होने से, वह हमारा कर्म कहलाता है। वह कर्म, कार्य या परिणाम यद्यपि यथासमय

समाप्त हो जाता है, तथापि वह हमारी चित्तभूमि पर अपनी एक 'छाप' छोड़ जाता है, अपना एक 'पदचिह्न' छोड़ जाता है — इसे ही 'संस्कार' नाम से पुकारा जाता है। चित्तभूमि पर 'अंकित' इन संस्कारों में हमारे उक्त कार्य या परिणाम अप्रकट रूप से मौजूद रहते हैं, और यथोचित बाह्याभ्यन्तर निमित्तों का संयोग पाकर प्रकट या व्यक्त हो जाते हैं। संस्कारों के रूप में अव्यक्त पड़े हुए हमारे पूर्वकृत परिणामों की यह पुनर्व्यक्तता ही, कर्म—सिद्धान्त की भाषा में 'कर्मादय' है। इस प्रकार, द्रव्यकर्म — अन्य कुछ नहीं — मात्र इस जीव के संस्कारों का प्रतिनिधित्व करते हैं; जैसे जीव के संस्कार, वैसे ही द्रव्यकर्म होते हैं।

पूर्वसंचित संस्कारों का कुछ भाग कर्मादय के फलरूप से व्यक्त होकर व्यय होता रहता है, किन्तु शेष भाग चित्त के कोष में सुरक्षित पड़ा रहता है। इस प्रकार, प्रत्येक जीव अपने पूर्व संस्कारों से प्रेरित होता रहता है। किसी विशेष पूर्वसंस्कार से प्रेरित होकर, यदि यह जीव पुनः पुनः तदनुरूप परिणमन करता रहता है, तो उस जाति का संस्कार और भी गहरा पड़ जाता है — यही कर्म—सिद्धान्त की भाषा में उस जाति के कर्म के 'स्थिति और अनुभाग की तीव्रता का बढ़ना (उत्कर्षण)' है। अज्ञानी जीव किस प्रकार अपने अविद्यारूपी संस्कार को पुनः पुनः दृढ़ करता जाता है, इसका स्पष्ट वर्णन श्री पूज्यपाद स्वामी ने *समाधिशतक* में किया है :

*"चूँकि बहिरात्मा इन्द्रियरूपी द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है, इसलिये देह को ही आत्मा समझता है; मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, और तिर्यच देह में स्थित आत्मा को तिर्यच, इत्यादि समझता है; अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर,*

उसे पर का आत्मा मानता है। इस विभ्रम के पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से अविद्या नामक संस्कार इतना दृढ़ हो जाता है जिसके कारण यह अज्ञानी जीव जन्म-जन्मान्तर में भी शरीर को ही आत्मा मानता है।” (स० भा०, छन्द सं० ७, ८, १०, १२)

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्म-सिद्धान्त की भाषा में जो 'जीवविपाकी कर्म' हैं — और उनमें भी विशेष रूप से मोहनीयकर्म की विभिन्न प्रकृतियाँ — उन्हें 'चित्तभूमि' पर 'अंकित' संस्कारों की उक्त भाषा के माध्यम से भी समझा जा सकता है। पूर्व संस्कारों की प्रेरणा से बचने का उपाय मुख्यतः जीव का अपना पुरुषार्थ ही है।

## § २.२१ अविद्यारूपी संस्कारों को मिटाने के

सम्यक् हेतु — भेद-विज्ञान के संस्कार

अनादिकाल से रागद्वेष करते चले आने के कारण आत्मा पर रागद्वेष के संस्कार इतने गहरे हो गए हैं कि हम अपने ही संस्कारों के आधीन हो गए हैं। फलस्वरूप, न चाहते हुए भी हम कषायरूप परिणमन कर जाते हैं। संस्कारों की यह आधीनता हमने स्वयं पैदा की है। अब इन संस्कारों को तोड़ने के लिये, इनसे विपरीत संस्कारों अर्थात् भेदज्ञान के संस्कारों को ग्रहण करना होगा। शरीरादिक परपदार्थों के प्रति एकत्वभाव के संस्कारों को मिटाने के लिये, उनके प्रति भिन्नत्व के संस्कारों को डालने का सतत पुरुषार्थ करना होगा।

जितनी गहराई से इस जीव ने अनादि से शरीर में एकत्व की भावना भाई है, उतनी ही गहराई से, बल्कि उससे भी अधिक गहराई से, शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना भानी होगी

— तभी वे संस्कार टूटेंगे। (विपरीत संस्कारों के टूटने को ही आगमभाशा में निर्जरा कहा गया है)। जैसे, यदि कोई काँटा चुभ जाए तो उसे निकालने के लिये, सूई को काँटे की लम्बाई से भी ज़्यादा गहराई में ले जाकर, उसे निकालना पड़ता है। वैसे ही, शरीर के प्रति एकत्वभाव के संस्कार को तोड़ने के लिये, उससे भिन्नत्व का संस्कार कहीं अधिक गहरा होना चाहिये। यदि निज चित्तवृत्ति का ईमानदारी से विश्लेषण करें तो पाएँगे कि चूँकि हम उतना पुरुषार्थ नहीं करते, इसी कारण हमारा पुराना संस्कार नहीं टूटता।

जब यह जीव शरीरादिक परपदार्थों को अपनेरूप देखता है, उस समय दो बातें एक—साथ होती हैं — (१) पूर्वसंचित अविद्यारूपी संस्कार व्यक्त होता है, अथवा दर्शनमोहनीय कर्म की उदयरूप अवस्था होती है; तथा (२) वही अविद्या—संस्कार फिर से मज़बूत हो रहा होता है, अथवा मिथ्यात्वकर्म का नूतन बन्ध हो रहा होता है। दूसरी ओर, कदाचित् मन्द उदय की स्थिति में, जब यह जीव सम्यक् उपदेश के अवलम्बपूर्वक अपने को शरीरादिक परपदार्थों से भिन्न, चेतनपदार्थरूप विचारने की, चिंतवन करने की चेष्टा करता है, तो अविद्यारूपी वह अनादिसंस्कार हलका होने लगता है। जब यह अपनी पूरी शक्ति लगाकर, भरसक चेष्टा करता है — सम्यक् तत्त्वचिंतवन में अपना पूरा उपयोग लगाता है — तो प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त हो जाता है। उस तत्त्वचिंतवन के दौरान, वह अविद्यारूपी संस्कार अथवा मिथ्यात्वकर्म और ढीला पड़ने लगता है। उसके अनन्तर, जब यह जीव अपने को मात्र अपनेरूप देखने की ओर, निजसत्तावलोकन की ओर सम्यक् रूप से अग्रसर होता है, तो करणलब्धि को प्राप्त हो जाता है; यह जीव प्रथम बार

निजस्वभाव का दर्शन करता है, प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है — जिस प्रकार कि आगे बढ़ने पर किसी कक्ष का स्वचालित (**automatic**) द्वार स्वयमेव खुल जाता है, परन्तु आगे न बढ़ने पर वह द्वार बंद पड़ा रहता है, ठीक इसी प्रकार से मिथ्यात्वकर्मरूपी द्वार का कार्य है; जो पुरुषार्थ के द्वारा आगे बढ़ता है, उसे मार्ग मिल जाता है।

## § २.२२ अध्यात्म और करणानुयोग की

कथनशैलियाँ — परस्पर विरोधी नहीं,

प्रत्युत एक—दूसरे की सम्पूरक

अध्यात्मशास्त्र और करणानुयोग उपर्युक्त विषय को अलग—अलग दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं। जीव के कषायरूप परिणमन का कारण अध्यात्मदृष्टि से जहाँ उसके आत्मबल की कमी को माना जाएगा, वहीं करणानुयोग की कथनशैली कदाचित् कर्मोदय की प्रबलता को उत्तरदायी ठहराती प्रतीत होती है। दृष्टिकोण अलग—अलग होते हुए भी अभिप्राय दोनों अनुयोगों का एक ही है। अध्यात्मशास्त्रों में जो कथन किया गया है, वह साधक के बुद्धिगम्य परिणामों को, और उनकी संभाल रखने के लिये उत्तरदायी जो उसका बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ है, उसी को दृष्टि में रखकर किया गया है।

साधक जीव के शुद्धात्मभावना—विषयक उत्साह को वृद्धिगत करने के अभिप्राय से अध्यात्म शास्त्र चेतनाशक्तिसम्पन्न जीव के पुरुषार्थ की मूलभूत स्वतन्त्रता का दुन्दुभिघोष करते हैं — जिससे कि साधक जितना पुरुषार्थ कर सकने में वर्तमान में समर्थ है उतना भरपूर करता रहे। दूसरी ओर, करणानुयोग भी हमें यही सम्बोधन देता हुआ प्रतीत होता है कि 'हे जीव!

तूने अपने परिणामों से ही इन कर्मों को बाँधा है और अपने परिणामों से ही तू इनसे मुक्त हो सकता है।' अतएव करणानुयोग भी हमें संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की मूलभूत स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता हुआ ही दिखाई देता है।

इस प्रकार, दोनों अनुयोगों का एक ही अभिप्राय है। यदि यह जीव पूर्णरूप से स्वतन्त्र नहीं है तो इसका एकमात्र कारण इसके आत्मबल की कमी है; कर्मरूपी निमित्त का उसमें कोई दोष नहीं है। आत्मबल घटाना या बढ़ाना इस जीव के अपने हाथ में है, यदि यह चाहे तो पुरुशार्थपूर्वक आत्मबल बढ़ा सकता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि आत्मबल जीव के गुणस्थानों के अनुसार क्रम-क्रम से ही बढ़ता है, तथापि यह भी सत्य है कि यदि यह जीव आत्मबल को बढ़ाने का सही पुरुशार्थ नहीं करता तो उसके लिये यह स्वयं उत्तरदायी है।

## § २.२३ कारण और साधन में मौलिक अन्तर;

एवं व्यवहार रत्नत्रय

का साधनत्व/निमित्तत्व

शरीर के साथ मिथ्या-एकानुभूति के अनादिकालीन संस्कार को तोड़ने के लिये जिस विरोधी संस्कार की आवश्यकता पड़ती है, उसी का नाम स्वानुभवन है, और वही निर्जरा का कारण है। ध्यान देने योग्य है कि कारण और साधन की परिभाषाओं में, अवधारणाओं में मूलभूत अन्तर है। कारण उसे कहते हैं जिसके सद्भाव में विवक्षित कार्य का निष्पन्न होना निश्चित हो तथा जिसके अभाव में वह कार्य उत्पन्न न हो सके। जैसे, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की सम्पूर्णता मोक्षरूपी कार्य का कारण है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि 'कारण' वस्तुतः और कुछ नहीं, अपितु उपादान की परिणति-विशेष ही है — वह

विशिष्ट अंतरंग परिणति जो कि विवक्षित कार्यरूपी परिणाम को उत्पन्न करने में समर्थ हो।

दूसरी ओर, साधन अथवा निमित्त उसे कहते हैं जिसका अवलम्ब लेकर हम अपने उपादान के भीतर कारण—रूप निजपरिणति को जाग्रत कर सकें, और फिर, उस (कारण—रूप निजपरिणति) के फलस्वरूप विवक्षित कार्यरूप निजपरिणाम को प्राप्त कर सकें। जैसे, सुदेव—शास्त्र—गुरु मोक्षमार्ग के साधन अथवा निमित्त हैं। देवदर्शन, आगमाध्ययन, गुरुपदेश—श्रवण आदि के द्वारा हम अपने अन्तरंग में भेद—विज्ञान की रुचि जाग्रत कर सकते हैं, और भेद—विज्ञान की भावना को अपने अंतस् में प्रबलता से भाते हुए आत्म—सम्मुख होने पर, हम सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूपी विवक्षित कार्य को, साध्यरूप निज परिणति को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि देव—शास्त्र—गुरु मोक्षमार्ग के साधन हैं, कारण नहीं। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि शास्त्रों में कई स्थलों पर श्रोता—विशेष की योग्यता आदि को दृष्टि में रखते हुए, प्रयोजनवश साधन—विशेष को मुख्य करते हुए, आचार्यों ने साधन को उपचार से कारण भी कहा है। देव—शास्त्र—गुरु वस्तुतः साधन भी उसी व्यक्ति के लिये हैं जो उनका अवलम्ब लेकर भेद—विज्ञान की रुचि जाग्रत करने का पुरुषार्थ करता है। इसीलिये, एक ओर तो जो (निश्चयावलम्बी) व्यक्ति इन्हें साधन भी नहीं मानता था, उसे आचार्यों ने इनके साधनत्व के बारे में भली—भाँति समझा कर, इनका अवलम्ब लेने का उपदेश दिया। तथा, दूसरी ओर, जो (व्यवहारावलम्बी) व्यक्ति इन्हें ही कारण मानकर रुक गया था, उसको आचार्यों ने इनमें कारणत्व का निषेध किन्तु साधनत्व की पुष्टि करते

हुए, इनके अवलम्बनपूर्वक आत्म-सम्मुख होने का उपदेश दिया।

इस विषय पर पण्डित टोडरमल जी के विचार मोक्षमार्गप्रकाशक के नौवें अधिकार में इस प्रकार मिलते हैं —  
“कारण अनेक प्रकार के होते हैं। . . . कितने ही कारण ऐसे हैं जिनके होने पर कार्य सिद्ध अवश्य ही होता है, और जिनके न होने पर कार्य सिद्ध सर्वथा नहीं होता। जैसे — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर तो मोक्ष अवश्य ही होता है, और उनके न होने पर सर्वथा मोक्ष नहीं होता। . . . कोई कारण ऐसे होते हैं, जिनके हुए बिना तो कार्य नहीं होता, और जिनके होने पर कार्य हो, अथवा न भी हो। जैसे — मुनिलिंग धारण किये बिना तो मोक्ष नहीं होता, परन्तु मुनिलिंग धारण करने पर मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता। तथा कितने ही कारण ऐसे हैं कि मुख्यतः तो जिनके होने पर कार्य होता है, परन्तु किसी-किसी के बिना हुए भी कार्य सिद्ध हो जाता है। जैसे — अनशनादि बाह्य तप। . . . इस प्रकार ये कारण कहे, उनमें अतिशयपूर्वक नियम से मोक्ष का साधक जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एकीभाव है, उसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये।”

यहाँ पर भी मुनिलिंग और बाह्यतपादिक साधनों के लिये पण्डित जी ने जो कारण शब्द का प्रयोग किया है, वह साधन में कारण का उपचार करते हुए ही ऐसा कहा है। अतः उनको साधन ही मानना चाहिये, कारण नहीं। इसीलिये पण्डित जी ने सातवें अधिकार में, ‘निश्चय- व्यवहारालम्बी’ प्रकरण के अन्तर्गत, बाह्य अवलम्बनों के कारणपने का निषेध करके साधनपने की स्थापना की है।

नौवें अधिकार में ही आगे जाकर पण्डित जी लिखते हैं —  
 “अणुव्रत/महाव्रत होने पर देशचारित्र/सकलचारित्र हो अथवा  
 न हो, परन्तु अणुव्रत/महाव्रत हुए बिना  
 देशचारित्र/सकलचारित्र कभी नहीं होता।” इसका अर्थ हुआ  
 कि चरणानुयोग के विषयभूत जो अणुव्रत/महाव्रतरूपी साधन  
 हैं, वे देशचारित्र/सकलचारित्ररूपी विशिष्ट आत्मपरिणामों को  
 (जिनकी उत्पत्ति दो अथवा तीन कषाय—चौकड़ियों के उदय के  
 अभाव की अपेक्षा रखती है) यद्यपि उत्पन्न नहीं कर सकते;  
 तथापि अणुव्रत/महाव्रत के सद्भाव के बिना भी  
 देशचारित्र/सकलचारित्र का होना असम्भव है। अतएव जिनके  
 अणुव्रत/महाव्रत नहीं हैं, उनके अप्रत्याख्यानावरण/  
 प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव भी नहीं है —  
 ऐसा सुनिश्चित है।

इसी सन्दर्भ में एक और प्रश्न उत्पन्न होता है —  
 ‘प्रवृत्तिरूप आचरण के सहचारी जो परिणाम रागात्मक हैं,  
 अतएव बन्ध के कारण हैं; वे वीतरागता का साधन कैसे हो  
 सकते हैं?’ उत्तर है कि सुदेव—शास्त्र—गुरु के आश्रित जो  
 शुभोपयोगरूप आत्मपरिणाम हैं, वे बन्ध का कारण हैं — यह  
 बात सत्य है; तथापि वे वीतरागता का साधन अवश्य हो सकते  
 हैं। उदाहरण के लिये, जैसे व्यापारिक संस्थानों द्वारा विज्ञापनों  
 पर किया जाने वाला व्यय यद्यपि आय का कारण नहीं है,  
 तथापि आय का साधन अवश्य है — क्योंकि विज्ञापनों के  
 माध्यम से बिक्री बढ़ा कर अधिक लाभ कमाया जा सकता है।  
 ऐसे ही, उपयुक्त शुभोपयोग यद्यपि बन्ध का कारण है, तथापि  
 शुद्धोपयोग के लक्ष्य से प्रेरित होकर यदि किया जाता है तो  
 वीतरागता का साधन भी है — इसीलिये इसे ‘परम्परया

साधन' कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सुदेव—शास्त्र—गुरु को पूजते हैं, उनकी विनय करते हैं — वे इन्हें रत्नत्रय का साधन मानकर पूजते हैं, पुण्यबन्ध का कारण मानकर नहीं।

जैसा कि अनुच्छेद २.१५ में *समयसार*, गाथा २६५ के विषय में विचार कर आए हैं, श्री अमृतचन्द्राचार्य ने शंकाकार द्वारा प्रश्न उठवाया है कि 'यदि बन्ध ही अध्यवसान का कारण है, तो फिर परवस्तु का त्याग क्यों कराया गया है?' वहाँ उत्तर दिया है कि 'अध्यवसान का आश्रय अथवा आधार परवस्तु होती है, अतः आधार के त्यागपूर्वक आधेयरूपी अध्यवसान का त्याग कराया है।' इससे भी स्पष्टतः ध्वनित होता है कि यद्यपि मात्र बाह्यवस्तु के त्याग से अध्यवसान का त्याग नहीं होता, अर्थात् बाह्यत्याग अध्यवसान के त्याग का कारण नहीं है, तथापि अध्यवसान का त्याग करने के लिये बाह्यत्याग आवश्यक है; बाह्यत्याग के बिना अध्यवसान का त्याग नहीं होता — बाह्यत्याग को अध्यवसान के त्याग के लिये साधन अवश्य बनाया जा सकता है।

## § २.२४ उपसंहार

ऊपर की गई विस्तृत विचारणा/वि लेशण के परिणामस्वरूप कुछ मुख्य निश्कर्ष—बिन्दु नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं —

(क) इस जीव की कर्मबद्ध अवस्था अनादिकाल से है; आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध भी निरंतर बना हुआ है। मिथ्यादृष्टि जीव के यह बन्ध—पद्धति अनादि से लेकर अटूट चली आ रही है; जैसे कि किसी व्यक्ति

को कोई रोग जन्म से हो — ऐसा नहीं कि पहले नीरोग था, और बाद में रोग हो गया हो। अतः अबुद्धिपूर्वक अज्ञानता (अगृहीत मिथ्यात्व—भाव) और कशाय सदा होते ही रहते हैं। जब ऐसा जीव परपदार्थ का अवलम्ब लेकर, उसमें इष्ट—अनिष्टता का आरोपण करके, उसे अपने कशायरूप परिणमन में निमित्त बनाता है, तब इसके भावों की तीव्रता के अनुकूल द्रव्यकषाय की उदीरणा हो जाती है — यही बुद्धिपूर्वक किया जाने वाला रागद्वेष है।

सम्यग्दृष्टि जीवों के भी गुणस्थानों के अनुसार विकारी परिणाम होते रहते हैं। आत्मबल भी गुणस्थानों के अनुसार ही प्रकट होता है। जीव की जो राग—परिणति होती है, वहाँ यथानुकूल कर्म का उदय भी रहता है। बुद्धिपूर्वक राग को करने या न करने के लिये तो यह जीव स्वतन्त्र है। परन्तु, परपदार्थ का बुद्धिपूर्वक अवलम्ब जब यह नहीं लेता, तब भी गुणस्थान के अनुसार इसकी जो राग—परिणति रहेगी उसे ही अबुद्धिपूर्वक उदय कहा जाता है।

(ख) दूसरे प्रकार का निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध इस जीव का अन्य पदार्थों की पर्यायों के साथ होता है। यहाँ यह जीव स्वतन्त्र है कि वह चाहे तो परपदार्थ का अवलम्ब ले अथवा न ले। परपदार्थ के निकट सान्निध्य में उपस्थित होते हुए भी, तथा उस परपदार्थ में अमुक व्यक्ति के विवक्षित कार्य का निमित्तपना होते हुए भी (निमित्तत्व के सामान्य—कथन के अनुसार), वह परपदार्थ उस व्यक्ति—विशेष के लिये तब तक निमित्त नहीं हो सकेगा जब तक कि वह व्यक्ति उसका सही रूप से अवलम्बन नहीं लेता।

(ग) धर्म, अधर्म, आकाश और काल — इन चारों द्रव्यों के निमित्तत्व के बारे में अनुच्छेद २.५ में भी विचार कर आए हैं। इनकी उपस्थिति लोक में सर्वत्र ही है, अतः जब जीवादिक पदार्थ हलन—चलन आदि करते हैं तो उन्हें प्रयत्नपूर्वक इन धर्मादिक निमित्तों को खोजकर, इनका अवलम्बन नहीं लेना पड़ता। लोकाकाश की सीमा के भीतर, उपादान द्रव्य जब—जहाँ गति/स्थिति/परिणमन/अवगाहन करता है, तब—तहाँ तदनुकूल साधारण निमित्त उपलब्ध रहता है। अतः यहाँ निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध स्वतः बन जाता है, बनाना नहीं पड़ता।

(घ) इस प्रकार, ऊपर 'क' से 'ग' तक कहे गए तीनों प्रकार के निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्धों को और उनकी पारस्परिक भिन्नताओं को भली—भाँति समझना ज़रूरी है।

(ङ) चूँकि द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों एक दूसरे की सम्पूरक हैं और चूँकि दोनों ही दृष्टियों के अविरोधरूप, द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, इसलिये पक्ष—विशेष के व्यामोह से ऊपर उठकर हमें दोनों ही दृष्टियों की अविरोधरूप, यथार्थ, सम्यक् रीति से चरणानुयोग द्वारा प्रतिपादित विषय को भी समझना चाहिये। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा चरणानुयोग के विषय को ज्ञेय कहा है — ज्ञान का विषय कहा है, जबकि पर्यायदृष्टि की अपेक्षा चरणानुयोग का विषय आचरणीय है, आचरण—योग्य है। यदि हम केवल एक दृष्टि को ही अपनाकर चरणानुयोग को मात्र ज्ञान का ही विषय मानेंगे,

आचरण का विषय नहीं मानेंगे, तब हमारे जीवन में उसकी कोई उपयोगिता स्थापित नहीं हो सकेगी, और न ही हममें आचरण को ग्रहण करने का कोई उत्साह जाग्रत हो सकेगा।

(च) यह सुस्पष्ट है कि प्रमाण का विषय समग्रता को लिये हुए होता है, जबकि नयों का विषय सापेक्षता को लिये हुए। तत्त्व-विवेचना के दौरान हमें यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रयुक्त करना चाहिये, तभी जिज्ञासुओं के प्रश्नों का, शंकाओं का सही समाधान हो सकेगा। विषय चाहे निमित्त-उपादान का हो या निश्चय-व्यवहार का, सामान्य-विशेष का हो द्रव्यदृष्टि-पर्यायदृष्टि का, द्रव्यसंयम- भावसंयम का हो या द्रव्यकर्म-पुरुषार्थ का — सापेक्ष कथन को सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का कथन मानते ही मिथ्या-एकान्त हो जाएगा।

(छ) निमित्ताधीनदृष्टि का अर्थ है 'मिथ्या' दृष्टि। जो जीव निमित्त को कर्ता मानता है, उसकी दृष्टि, उसका दर्शन 'निमित्ताधीन' है। जीव की ऐसी दृष्टि ही अनन्तानुबन्धी कषाय को जन्म देती है। आगम में — विशेषतः करणानुयोग और चरणानुयोग में — निमित्त को उपचार से कर्ता कहकर वर्णन किया गया है। जहाँ भी हमें ऐसा वर्णन दृष्टिगोचर हो, वहाँ हमें विवेकपूर्वक उस परवस्तु के निमित्तपने को तो यथार्थ समझना चाहिये, जबकि कर्तापने को उपचार समझना चाहिये — क्योंकि निमित्त परद्रव्य की पर्याय है, अतः वह अन्यद्रव्य का कर्ता नहीं हो सकती।

समयसार में निमित्त को कर्ता मानने वाले व्यक्ति को सांख्यमतावलम्बी कहा गया है, चाहे वह अर्हतदेव का मतानुयायी मुनि ही क्यों न हो। लोक—व्यवहार में चूँकि उपचार की प्रधानता से ही अधिकांशतः कथन किये जाते हैं, इसलिये वहाँ कह दिया जाता है कि 'फलाँ आदमी ने या फलाँ चीज़ ने हमारा कार्य कर दिया' अथवा 'फलाँ आदमी की या फलाँ चीज़ की वज़ह से हमारा कार्य हो गया'। वहाँ भी सुस्पष्टतया यह समझना चाहिये कि यह सब कथन उपचार है, अतएव अयथार्थ है — क्योंकि परवस्तु/निमित्त कभी भी अन्यद्रव्य के कार्य का कर्ता नहीं हो सकता।

(ज) अगर शुरुआत भी करनी है मोक्षमार्ग में, तो हमारे लिये यह नितान्त अनिवार्य है कि जिनसिद्धान्त के आलोक में न्याय, युक्ति और तर्क के आधार पर हम अपनी उन समस्त लौकिक मान्यताओं का भलीभाँति परीक्षण करें, पूरी ईमानदारी और बारीकी से उनका विश्लेषण करें, जिनको कि हम पूर्व—अभ्यासवश, अनजाने या अनायास ही, मोक्षमार्ग के क्षेत्र में आयात (import) कर लेते हैं — बग़ैर उनकी तर्कसंगति या युक्तियुक्तता का कोई प्रश्न उठाए। और फिर, ऐसे विश्लेषण के निष्कर्षस्वरूप जहाँ कहीं भी हम पाएँ कि हमारी अमुक मान्यता युक्तिसंगत नहीं है, वहीं हम अविलम्ब उसको त्यागने का और उसके स्थान पर उस विषय की सम्यक् व युक्तियुक्त मान्यता को अपनाने का साहस करें। तभी हमारे जीवन में सम्यक् रूपान्तरण के घटित होने की सम्भावना बन सकेगी, अन्यथा नहीं।

(झ) ऊपर की विस्तृत विचारणा के दौरान हमने देखा कि कार्य के होने में निमित्त और उपादान, दोनों का अपना—अपना स्थान है। जब वस्तुस्वरूप इस प्रकार है तो विवक्षित कार्य को सम्पन्न करने के लिये, दोनों प्रकार के हेतुओं में से जिस ओर कमी हो उसकी पूर्ति हमें अपने जीवन में करनी चाहिये। यदि निजकार्यानुकूल निमित्त उपलब्ध नहीं है तो चेष्टापूर्वक उसे ढूँढकर — उसका संयोग प्राप्त करके — उसका अवलम्ब लेना चाहिये; इसी प्रकार, जो निमित्त निज कार्य के प्रतिकूल पड़ते हों, उनसे हटना चाहिये। तथा, दूसरी ओर, अपने साध्य का निर्णय बुद्धि के स्तर पर कर लेने के बाद भी यदि हम पाते हैं कि हमारा उपादान तदनुरूप नहीं है तो अपने में उस अनुरूपता को विकसित करने का सम्यक् प्रयत्न हमें करना चाहिये। निज साध्य/कार्य को सम्पन्न करने का यही समीचीन पुरुषार्थ है।

अन्ततः, अतिसंक्षेप में कहें तो, निष्कर्ष यह है कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में हमें अपने साध्य/कार्य में उपयुक्त/अनुकूल पड़ने वाली परवस्तु/निमित्त का अवलम्ब लेकर — किन्तु उसे कर्ता समझने की अपनी भूल का भली-भाँति सुधार करते हुए — अपने आत्मबल को बढ़ाने का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिये, ताकि फिर किसी भी परद्रव्य के अवलम्बन की आवश्यकता हमें न रहे और हम पूर्ण स्वाधीन हो जाएँ।

## ।। निमित्तविशयक भांका—समाधान ।।

प्र न १ : ऊपर, लेख में कहा गया है कि निमित्त किसी कार्य का कर्ता नहीं होता, और वह कार्य को कराता भी नहीं — तो फिर कार्य के होने में निमित्त की क्या कोई भी अपेक्षा है, या कि वह सर्वथा अकिंचित्कर है?

उत्तर : मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, विवक्षित कार्य के होने में निमित्त सहायता या मदद नहीं करता, इस दृष्टि से यद्यपि अकिंचित्कर है; तथापि उपादान उसकी (निमित्त की) सहायता लेता है, इसलिये उसकी अपेक्षा भी है।

प्र न २ : 'जब कार्य होगा तो निमित्त वहाँ पर अव य उपस्थित होगा' — क्या यह कहना ठीक है?

उत्तर : हाँ, यह बात ठीक है कि जब कार्य होता है तो निमित्त वहाँ पर होता ही है — परन्तु यह तो ठीक जिस क्षण कार्य हो रहा होता है, बिल्कुल उसी क्षण की वस्तुस्थिति का कथन है। कार्य होने से पहले तो जिस जीव को अपना वांछित कार्य करना है, वह उस कार्य के अनुकूल निमित्त को जुटाने के लिये प्रयत्न अव य करता है। फलस्वरूप, जब कार्य होता है तब निमित्त—उपादान दोनों ही मौजूद होते हैं और उपादान/जीवद्रव्य निमित्त का आश्रय लेता है। अपनी उपस्थिति मात्र से कोई पदार्थ 'निमित्त' नहीं कहलाता, प्रत्युत उसका आश्रय या अवलम्ब लेना होता है।

प्र न ३ : निमित्त को खोजना पड़ता है या वह स्वयमेव उपस्थित हो जाता है?

उत्तर : दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ सम्भव हैं। अधिकांश तः तो जीव को 'कार्यानुकूल' निमित्त को खोजना पड़ता है, और कभी-कभी ऐसे निमित्त का संयोग अनायास भी हो जाता है। परन्तु हमें मोक्षमार्ग के अनुकूल निमित्तों को जुटाने का — अर्थात् उनका संयोग प्राप्त करने का — प्रयत्न करना चाहिये, उनकी 'स्वयमेव उपस्थिति' की प्रतीक्षा में बैठे नहीं रहना चाहिये।

प्र न ४ : निमित्त को जुटाने से क्या होगा, कार्य तो जब होना है तभी होगा?

उत्तर : पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने *मोक्षमार्गप्रकाश* में लिखा है कि बुद्धिपूर्वक जुटाए जाने योग्य निमित्त तो चेश्टा करके ही जुटाए जाते हैं, और अबुद्धिपूर्वक जुटने लायक निमित्त (कर्मादय आदि के अनुसार) अपने-आप आकर जुट जाएँ, संयोग को प्राप्त हो जाएँ, तो कार्य सम्पन्न होता है।

प्र न ५ : यह कहने में क्या आपत्ति है कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता?

उत्तर : 'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता' — यह कथन ठीक है, परन्तु उपादान ही निमित्तत्वरूपी योग्यता रखने वाले किसी पदार्थ को निज कार्य के लिये निमित्त बनाता है। अतः वस्तुस्थिति का एक पक्ष यह भी है कि योग्य निमित्त के उपस्थित होने पर भी, उसका संयोग प्राप्त कर लेने पर भी, जब तक जीवरूपी उपादान विवक्षित कार्य के अनुरूप तैयार नहीं होता तब तक कार्य नहीं होता। जैसे — 'मुनिव्रत धारण किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता', यह बात ठीक है; परन्तु, मुनिव्रत धारण करके, जीव/उपादान को मोक्षप्राप्ति के पुरुशार्थ में निरन्तर तत्पर रहना चाहिये।

अतः उक्त कथन उपादान की तैयारी की सम्यक् सापेक्षता को लिये हुए है।

प्र न ६ : निमित्त के अनुसार कार्य होता है या कार्य के अनुसार निमित्त होता है?

उत्तर : मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, कार्य के लिये निमित्त होता है — निमित्त के लिये कार्य नहीं होता।

प्र न ७ : क्या एक पदार्थ अनेक कार्यों के लिये भी निमित्त हो सकता है?

उत्तर : हाँ, एक ही पदार्थ को भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने-अपने उपादान की योग्यता और रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्यों का निमित्त बना लेते हैं। ज्ञानी जीव के लिये जिन-प्रतिमा सम्यक्चारित्र का निमित्त है, सम्यक्त्व के सम्मुख मिथ्यादृष्टि के लिये वह भेदविज्ञान या सम्यग्दर्शन का निमित्त है, जबकि व्यवहारालम्बी व्यक्ति उसे पुण्यबन्ध का निमित्त बनाता है। कोई काल्पिक पाशाण को नासाग्रदृष्टियुक्त आकृति में ऐसी कलात्मक भौली से तैयार करता है, मानो कि मूर्तिमन्त भेदविज्ञान सामने उपस्थित हो; तो एक चोर किसी भिन्न ही प्रयोजन से — चोरी के अथवा भ्रष्ट प्रयोजन से — प्रतिमा का अवलम्ब लेता है।

प्रश्न ८ : जिनबिम्ब में किसी कर्ता-धर्ता, रागी-द्वेषी, काल्पनिक 'ईश्वर' के दर्शन कर लेने वाले व्यक्ति के लिये, क्या ऐसी अनुकूलता भी जिनबिम्ब में है?

उत्तर : ऐसा व्यक्ति कथित देवदर्शन की क्रिया करते समय जिस मनुष्याकृति का अवलम्ब लेता है, वह तो जिनबिम्ब में अवश्य विद्यमान है। परन्तु, उस आकृति के लक्षणस्वरूप नासाग्रदृष्टि, वीतरागता, आत्मलीनता आदि गुणों के विपरीत पड़ने वाले जो कर्ता-धर्तापना अथवा

रागी—द्वेषीपना आदि अवगुण हैं, उनका उस जिनमुद्रा में नितान्त अभाव है; उन्हें तो वह व्यक्ति अपनी स्वयं की ही — गृहीत अथवा अगृहीत — मिथ्या—मान्यताओं/कल्पनाओं से वहाँ आरोपित करता है, जिनबिम्ब की उसमें कोई भूमिका नहीं है।

प्र न ६ : निमित्त जुटाने के उपदे १ से क्या दृष्टि बहिर्मुख नहीं हो जाती? और, चेश्टापूर्वक निमित्त जुटाना क्या 'पर—कर्तृत्व' का सूचक नहीं है?

उत्तर : ऐसा नहीं है — निमित्त जुटाने का उपदे १ उन्हीं जीवों को दिया गया है जो निरंतर संसार—रीर—भोगों में लगकर कशायों की पुष्टि कर रहे हैं। ऐसे जीवों को 'अ जुभ निमित्तों' से हटाने के हेतु उन्हें ऐसे पदार्थों का अवलम्ब छोड़ने का और 'जुभ निमित्तों' का अवलम्ब ग्रहण करने का उपदे १ दिया है; जिससे कि उनके अन्तरंग में भुद्धोपयोग की महिमा और उसके प्रति रुचि जाग्रत होने की सम्भावना बने। निमित्तों को जुटाना अर्थात् प्रयत्नपूर्वक उनका संयोग प्राप्त करना 'पर—कर्तृत्व' का सूचक नहीं, अपितु कार्यसिद्धि का एक बहिरंग उपाय है।

प्र न १० : क्या निमित्त भी इष्ट अथवा अनिष्ट होते हैं?

उत्तर : नहीं, पर—पदार्थ कभी भी किसी को इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं होता। जीव का वीतरागतारूप परिणमन ही वस्तुतः इष्ट है, जबकि राग—द्वेशरूप परिणमन अनिष्ट है। कशायों की वृद्धि में जो पदार्थ निमित्त पड़ता है, उसे उपचार से 'अनिष्ट' कह दिया जाता है; और कशायों की मन्दता में जो निमित्त होता है, उसे उपचार से 'इष्ट' कह दिया जाता है। अथवा जिसका अवलम्ब लेकर हम अपना इष्ट कार्य कर लेते हैं, उसे 'इष्ट निमित्त' कहते हैं, और

जिसका अवलम्ब लेने पर हमारा कार्य विपरीत हो जाता है, उसे 'अनिष्ट निमित्त' कहते हैं।

प्र न ११ : जब निमित्त राग-द्वेष नहीं करा सकता, तब उससे बचने का

उपदे १ क्यों दिया गया है?

उत्तर : पर-पदार्थ हमारे राग-द्वेष का कर्ता नहीं हो सकता

— यह बात ठीक है, परन्तु पर-पदार्थ के संयोग के सद्भाव में चूँकि आत्मबल के अभाव के कारण हम उसका अवलम्ब लेकर राग-द्वेष कर लेते हैं, अतः ऐसे पर-पदार्थों से बचना आवश्यक है; परद्रव्य को अनिष्ट मानकर नहीं, अपितु अपने में आत्मबल का अभाव मानकर बचना आवश्यक है (क्योंकि उसके सद्भाव में हम अपने परिणामों पर नियन्त्रण नहीं रख पाते)। इसी प्रकार, हम ' शुभ निमित्तों' का संयोग प्राप्त करने की चेश्टा करते हैं — इसलिये नहीं कि वह हमारा कल्याण कर देगा, बल्कि इसलिये कि उसका अवलम्ब लेकर यदि हम अपने परिणामों को सुधार कर अपना कल्याण करना चाहें तो कर सकते हैं।

प्र न १२ : आत्मा तो परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है, फिर निमित्त को

जुटाने या हटाने का प्र न ही कहाँ उत्पन्न होता है?

उत्तर : यह बात ठीक है कि द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा यह आत्मा परद्रव्य का ग्रहण अथवा त्याग नहीं कर सकता। परन्तु निमित्त को जुटाना या हटाना तो पर्यायदृष्टि का विशय है, अतः द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा इस बात पर विचार करना असंगत होगा। पर्यायदृष्टि से हम परद्रव्य का

ग्रहण/संचय भी करते हैं, उसका त्याग भी करते हैं, और उसका परिमाण भी करते हैं। पर्यायदृष्टिविषयक इस सत्य को स्वीकार नहीं करने से व्रत, नियम, संयम आदि का निशेध हो जाएगा।

प्र न १३ : आचार्य ने जो कहा है कि निमित्त धर्मद्रव्यवत् उदासीन है, इससे क्या तात्पर्य है?

उत्तर : निमित्त कर्ता नहीं होता, यही दान देने के लिये आचार्य ने उसे धर्मद्रव्यवत् कहा है।

प्र न १४ : पण्डित बनारसीदासजी और भैया भगवतीदासजी के निमित्त—

उपादान सम्बन्धी दोहों का क्या अर्थ लगाना चाहिये?

उत्तर : उनमें निमित्त को कर्ता मानने का निशेध किया गया है, निमित्त को निमित्त मानने का नहीं; अतः वे सापेक्ष कथन हैं।

प्र न १५ : निमित्त का उपकार अथवा अपकार मानें या नहीं?

उत्तर : जहाँ तक उपकार का प्र न है — हमने अपना कार्य स्वयं किया है; तो भी, चूँकि निमित्त के अवलम्बनपूर्वक किया है, इसलिये निमित्त का अकार के नाते हम उसका उपकार मानते हैं, और मानना भी चाहिये। उपकार की ही भाँति उपकार भी निमित्त ने नहीं किया — हमने स्वयं ही उसका अवलम्ब लेकर अपना अहित कर लिया; अतः उससे द्वेष करने का तो प्र न ही पैदा नहीं होता। किन्तु, आत्मबल के अभाव में 'प्रतिकूल निमित्तों' से दूर रहना भी आवश्यक है — इसलिये नहीं कि वह हमारा कुछ अहित कर देगा, बल्कि इसलिये कि उसका अवलम्ब लेकर हम स्वयं अपना अहित न कर लें।

प्र न १६ : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध और कर्ता-कर्म सम्बन्ध में क्या अन्तर है?

उत्तर : (1) कर्ता-कर्म सम्बन्ध सदैव एक ही द्रव्य में होता है, जबकि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सदैव दो द्रव्यों की पर्यायों में होता है। (2) निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में, कार्य-अनुकूल निमित्त के साथ-साथ उपादान का भी तदनुरूप परिणामन शक्ति से युक्त होना आवश्यक है — तभी कार्य निश्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्र न १७ : समयसार में जीव को अपने 'ज्ञान-दर्शन का कर्ता' बतलाया है।

उसमें 'यः परिणमति . . . ' वाली परिभाषा कैसे घटित होगी?

उत्तर : समयसार में कर्ता-कर्म सम्बन्ध का कथन दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया गया है — द्रव्यदृष्टि से, और पर्यायदृष्टि से। द्रव्यदृष्टि से यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव का कर्ता है; अपने ज्ञान-दर्शन गुणों के साथ इसका नित्य-तादात्म्य है। दूसरी ओर, पर्यायदृष्टि से यह जीव अपने परिणामों का कर्ता है; अपने परिणामों के साथ इसका अनित्य-तादात्म्य है। नित्यतादात्म्य / अभेद को प्राप्त द्रव्य और उसके गुणों के बीच भेददृष्टि की मुख्यता से, नित्यतादात्म्य में कर्ता-कर्म सम्बन्धरूपी भेदात्मक उपचार करते हुए, आचार्यों ने द्रव्यदृष्टिविषयक कर्ता-कर्म सम्बन्ध का कथन जहाँ किया है, वहाँ उनका प्रयोजन जीव की निज विकारी पर्यायों में एकान्त-कर्तृत्वबुद्धि को छुड़ाने का रहा है ('तू तो मात्र अपने ज्ञान-दर्शन का कर्ता है, रागादिक का नहीं' इस

प्रकार स्वभाव को प्रतिपादित करने वाली द्रव्यार्थिक दृष्टि की प्रधानतापूर्वक कथन करके)।

दूसरी ओर 'यः परिणमति . . .' वाली परिभाषा पर्यायदृष्टि से की गई है। वहाँ, द्रव्य और उसकी वर्तमान पर्याय में भेददृष्टि की मुख्यता से द्रव्य को स्वयं की पर्याय का कर्ता बतलाया है।

प्र न १८ : जब निमित्त कर्ता नहीं होता, तब 'उसकी उपस्थिति मात्र है' —

ऐसा कहने से क्या निमित्तपने की ठीक परिभाषा हो जाएगी?

उत्तर : नहीं, 'केवल उपस्थिति' निमित्तपने की सही/सम्यक् व्याख्या नहीं करती। केवल भौतिकरूप से उपस्थिति (mere physical presence) होने से कोई परपदार्थ 'निमित्त' नहीं हो जाता, किन्तु उपादान को उसका अवलम्बन लेना होता है। अब दो सम्भावनाएँ बनती हैं — (1) कार्यानुकूल परपदार्थ वर्तमान में उपस्थित हो और उपादान उसका अवलम्ब लेकर परिणमे; अथवा (2) परपदार्थ वर्तमान में साक्षात् रूप से उपस्थित न भी हो, किन्तु उपादान अपनी स्मृति के द्वारा उसे अपने उपयोग में उपस्थित करके, उसके अवलम्बपूर्वक परिणमे। जैसे कि पूर्व में भोगे गए भोगों के स्मरणपूर्वक यह जीव पुनः राग-द्वेशरूप परिणाम कर लिया करता है। इसी प्रकार, पूर्व में पढ़े हुए जिनागम के स्मरण-मननपूर्वक यह जीव अपने परिणामों की वर्तमान में सँभाल भी कर सकता है।

हमारे चारों ओर सदाकाल असंख्य पदार्थ उपस्थित रहते हैं, किन्तु 'निमित्त' हम उसी को कह सकते हैं जिसका कि हम अपने वांछित कार्य के लिये अवलम्बन

लेते हैं — और, इस प्रकार, उसे 'निमित्त' बनाते हैं। केवल धर्म-अधर्म-आका 1-काल द्रव्यों के सन्दर्भ में ही ऐसा है कि गति, स्थिति आदि के हेतु उनका प्रयत्नपूर्वक अवलम्ब नहीं लेना पड़ता।

प्र न १६ : द्रव्यसंयम और भावसंयम के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है या नहीं?

उत्तर : द्रव्यसंयम के बिना भावसंयम नहीं होता, जबकि भावसंयम के बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नहीं होता; कहीं-कहीं दोनों साथ-साथ भी हो जाते हों, परन्तु अधिकां ततः द्रव्यसंयमपूर्वक ही भावसंयम होता है। चरणानुयोग के सन्दर्भ में सर्वत्र यही वस्तुस्थिति है।

'द्रव्यसंयम धारण करने से भावसंयम हो जाएगा' — ऐसा नहीं है; परन्तु भावसंयम के लिये द्रव्यसंयम का होना आव यक है; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि 'देव- शास्त्र-गुरु के श्रद्धान से सम्यक्त्व हो जाएगा' — ऐसा नहीं है, परन्तु सम्यक्त्व के लिये देव- शास्त्र-गुरु का श्रद्धान होना आव यक है।

बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है, अपितु जीव के द्वारा उठाए गए राग-द्वेषात्मक विकल्प ही वास्तव में बन्ध का कारण हैं। अब चूँकि विकल्प सदैव बाह्य वस्तु का आश्रय लेकर होते हैं, इसलिये विकल्पों के त्याग के लिये बाह्य वस्तु का त्याग आव यक है। यद्यपि बाह्य वस्तु हमारे विकल्पों को पैदा नहीं कराती, तथापि बाह्य वस्तु का अवलम्ब लिये बिना हमारे चित्त में विकल्प नहीं उठते।

‘बाह्य वस्तु के त्याग मात्र से विकल्प टूट जाएं’ — ऐसा नहीं है, परन्तु विकल्पों को तोड़ने के लिये बाह्य वस्तु का त्याग आव यक है; और हम सभी जानते हैं कि विकल्पों का अभाव ही भावसंयम है। अतः द्रव्यसंयम से यद्यपि भावसंयम नहीं होता, तथापि भावसंयम के लिये द्रव्यसंयम का होना आव यक है, अपरिहार्य है — द्रव्यसंयम को भावसंयम का ‘साधन’ तो अव य बना सकते हैं, किन्तु वह ‘कारण’ नहीं होता है।

प्र न २० : गाली देने वाले व्यक्ति ने क्या क्रोध नहीं कराया?

उत्तर : नहीं, हमारी अज्ञानमूलक मान्यता ही ऐसी हो रही है कि ‘यदि कोई गाली दे तो क्रोध करना चाहिये।’ यही कारण है कि ऐसा संयोग जुड़ते ही, अपनी पूर्वनिर्मित धारणा के व िभूत हुए हम बिना कुछ सोचे-समझे क्रोधित हो जाते हैं, और सोचते यह हैं कि ‘उसने क्रोध करा दिया।’ निमित्त पर कर्तापने का मिथ्या आरोपण करने वाली, उस पर अपने रागद्वेशरूप परिणमन का दायित्व थोपने वाली इस दृष्टि को ही निमित्ताधीन दृष्टि कहा जाता है।

यदि देखा जाए कि गाली देने वाले ने क्या किया, तो वस्तुतः उसने तो केवल अपना परिणमन किया। हमने ही अपने ज्ञानस्वभाव से हटकर उसे सुनने में अपना उपयोग लगाया, और सुनकर उसमें अनिष्टता की कल्पना की। हमारा क्रोधमय परिणमन हमारी उसी अनिष्टतारूपी कल्पना का फल है। यदि हम गाली को न सुनते, अथवा उसे अनसुनी कर देते, या फिर उसमें अनिष्टत्व की कल्पना नहीं करते, तो हमारा क्रोधरूप परिणमन नहीं होता।

अतः गाली ने वास्तव में क्रोध नहीं कराया, बल्कि उसका अवलम्ब लेकर हमने स्वयं क्रोध किया — यही सम्यक् वस्तुस्थिति है। इस सत्य को स्वीकार करने से गाली देने वाले में हमारी द्वेषबुद्धि नहीं होगी, प्रत्युत हम उदासीन या भान्त रहने का पुरुशार्थ करेंगे — यही हमारा सम्यक् पुरुशार्थ होगा। इसके विपरीत, यदि हम निमित्त को दोषी मानेंगे तो उससे द्वेष अव य करेंगे; और अपनी इस मान्यता के फलस्वरूप उसे ठीक करने की अनधिकार व निश्फल चेश्टा करेंगे।

प्र न २१ : क्या 'निमित्त' हमें सुखी—दुःखी कर सकता है?

उत्तर : नहीं, हमारा दुःख—सुख हमारे अपने कशायमय अथवा निश्कशाय परिणमन से होता है, निमित्त के कारण नहीं। अपने में आत्मबल की कमी के कारण, चूँकि हम निमित्त से अप्रभावित नहीं रह पाते और उसका अवलम्ब लेकर कशायरूप परिणम जाते हैं, इसलिये हमें यह भ्रम हो जाता है कि निमित्त ने हमें दुःखी—सुखी किया। उससे प्रभावित होना या न होना वस्तुतः हमारे अपने ऊपर निर्भर है।

प्र न २२ : क्या 'निमित्त' हमारा लौकिक हित—अहित कर सकता है?

उत्तर : नहीं, परपदार्थरूपी निमित्त तो मात्र एक माध्यम है; असल में तो हमारे पुण्य—पापकर्म का उदय ही लौकिक हित—अहित में निमित्त होता है।

प्र न २३ : यह क्यों कहा गया है कि 'परावलम्बन से स्वावलम्बन नहीं होगा,

बल्कि स्वावलम्बन से ही स्वावलम्बन होगा'?

उत्तर : प्राथमिक अवस्था में परावलम्बन से ही स्वावलम्बन की भावना जाग्रत की जाती है — आगे चलकर, इस प्रकार

जाग्रत की गई वह स्वावलम्बन की भावना पुनः अधिक स्वावलम्बन को बढ़ाने के लिये प्रेरित करती है। जैसे कि प्राथमिक अवस्था में भास्त्र—अध्ययन से आत्मभावना जाग्रत ही जाती है, और आगे चलकर वही आत्मभावना आत्मानुभवन के लिये प्रेरित करती है। जो लोग आगम के अध्ययन का अवलम्ब लिये बिना कोरी आत्मभावना की बात करते हैं, उन्हें तो आगम का अवलम्बन लेने का उपदे । दिया गया है; और जो लोग सिर्फ़ भास्त्र—अध्ययन में ही लगे हुए थे, उन्हें 'स्वावलम्बन से ही स्वावलम्बन होगा' — ऐसा उपदे । दिया है।

प्र न २४ : चावल है वह अग्नि और जल का निमित्त मिलने पर पकेगा या

स्वयं अपने उपादान की योग्यता से पकेगा?

उत्तर : कोई भी कार्य स्व—पर या उपादान—निमित्त, दोनों की अपेक्षापूर्वक होता है, अतः जहाँ भी कार्य होगा वहाँ निमित्त और उपादान, दोनों ही होंगे। अग्नि व जल के बिना चावल पक जाएं, यह सम्भव नहीं है; तथा, दूसरी ओर, चावल में पकने की सामर्थ्य न हो और अग्नि व जल उसे पका दें — ऐसा भी नहीं है।

जब उपादान की मुख्यता से कथन करते हैं कि 'चावल अपनी भाक्ति से पका, निमित्त ने क्या किया', तब उसका अभिप्राय है कि जो निमित्त है वह उपादान की आभ्यन्तर भाक्ति का कर्ता नहीं हो सकता। दूसरी ओर, जब निमित्त की मुख्यता से कथन करते हैं तो कहते हैं कि विवक्षित कार्य निमित्त के बिना नहीं हुआ। कार्य तो वस्तुतः निमित्त और उपादान, दोनों की समग्रता में ही होता है — यही कथन प्रमाणभूत है। उपादान की मुख्यता वाला जो

कथन है वह निमित्त की अपेक्षा को लिये हुए है; और निमित्त की मुख्यता वाला जो कथन है वह उपादान की अपेक्षा रखता है।

प्र न २५ : जीवन में उपादान की मुख्यता लेकर चलें या निमित्त की?

उत्तर : मोक्षमार्ग में उपादान की मुख्यता होती है, अतः उसी की मुख्यता को लेकर चलना चाहिये। हाँ, संसार में अवयव निमित्त की मुख्यता हुआ करती है — 'निमित्त' से यहाँ तात्पर्य द्रव्यकर्मों से है, और उनमें भी मुख्यरूप से चार अघातियाकर्मों से, जिनके उदय के अनुसार जीवन में विभिन्न प्रकार की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ अर्थात् सुख-दुःख की बाह्य सामग्री, इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग आदि उपस्थित होती हैं। इस दृष्टि से जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि जीवन का समस्त लौकिक कार्य कर्मों ने भली-भाँति सँभाल रखा है और हमारे करने के लिये कुछ भी नहीं है — सिवाय इसके कि हम बाह्य पदार्थों/परिस्थितियों में कर्तृत्व का राग छोड़कर ज्ञाता-द्रष्टारूप रहें।

पुन च, निश्कर्ष यह कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में, आत्म-कल्याण के निमित्तों का अवलम्बन लेकर हमें अपने परिणामों को सरल करना चाहिये। रागादिक के निमित्तों से दूर रहकर स्वयं को कशायरूप परिणमन से बचाना चाहिये, तथा आत्महित के निमित्तों के अवलम्बपूर्वक आत्मबल बढ़ाने का पुरुशार्थ करना चाहिये। जैसे-जैसे आत्मबल बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे निमित्तों का अवलम्ब लेने की आवयकता भी कम होती जाएगी।

'निमित्त ने मुझे अपने आधीन कर रखा है' — यह 'मिथ्या' दृष्टि है। 'मैं निमित्त के या पर के आधीन हो रहा हूँ' — यह चारित्रमोह है। और, 'मैं अपने में हूँ' — यह मोक्षमार्ग है। 'निमित्त ने मेरा इष्ट-अनिष्ट किया' — यह मिथ्यात्व है। 'मैंने पर का अवलम्ब लेकर अपना हित-अहित किया' — यह चारित्रमोह है। और, 'मैं अपने आप में स्थिर हो गया हूँ' — यह मोक्षमार्ग है, तथा इसकी निर्विकल्प पूर्णता ही मोक्ष है।